नदी के द्वीप - सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाए।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अंतरीप, उभार, सैकत-कूल
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।

माँ है वह! है, इसी से हम बने हैं।
किंतु हम हैं द्वीप। हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किंतु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जाएँगे।

और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बनकर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनाएँगे।

द्वीप हैं हम! यह नहीं है शाप। यह अपनी नियती है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी की क्रोड में।
वह बृहत भूखंड से हम को मिलाती है।
और वह भूखंड अपना पितर है।
नदी तुम बहती चलो।
भूखंड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, सस्कार देती चलो। यदि ऐसा कभी हो -

तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के,
किसी स्वैराचार से, अतिचार से,
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे -
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर काल,
प्रावाहिनी बन जाए -
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर।
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नए व्यक्तित्व का आकार।
मात:, उसे फिर संस्कार तुम देना।

यह दीप अकेला - सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता पर
इसको भी पंक्ति को दे दो

यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृति लायेगा?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा
यह अद्‌वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता पर
इस को भी पंक्ति दे दो

यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युगसंचय
यह गोरसः जीवन-कामधेनु का अमृत-पूत पय
यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय
यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, अयुतः
इस को भी शक्ति को दे दो

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता पर
इस को भी पंक्ति दे दो

यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा,
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा,
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़वे तम में
यह सदा-द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर-अखंड अपनापा
जिज्ञासु, प्रबुद्‌ध, सदा श्रद्‌धामय
इस को भक्ति को दे दो

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता पर
इस को भी पंक्ति दे दो

कलगी बाजरे की - सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

हरी बिछली घास।
दोलती कलगी छरहरे बाजरे की।

अगर मैं तुम को ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार –न्हायी कुंई,
टटकी कली चम्पे की, वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।

बल्कि केवल यही : ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।

कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।
मगर क्या तुम नहीं पहचान पाओगी :
तुम्हारे रूप के-तुम हो, निकट हो, इसी जादू के-
निजी किसी सहज, गहरे बोध से, किस प्यार से मैं कह रहा हूं-
अगर मैं यह कहूं-

बिछली घास हो तुम लहलहाती हवा मे कलगी छरहरे बाजरे की ?

आज हम शहरातियों को
पालतु मालंच पर संवरी जुहि के फ़ूल से
सृष्टि के विस्तार का- ऐश्वर्य का- औदार्य का-
कहीं सच्चा, कहीं प्यारा एक प्रतीक
बिछली घास है,
या शरद की सांझ के सूने गगन की पीठिका पर दोलती कलगी
अकेली
बाजरे की।

और सचमुच, इन्हें जब-जब देखता हूं
यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है
और मैं एकान्त होता हूं समर्पित

शब्द जादू हैं
मगर क्या समर्पण कुछ नहीं है?

बावरा अहेरी - सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथः
छोटी-छोटी चिड़ियाँ
मँझोले परेवे
बड़े-बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले
डौल के बैडौल
उड़ने जहाज़
कलस-तिसूल वाले मंदिर-शिखर से ले
तारघर की नाटी मोटी चिपटी गोल घुस्सों वाली
उपयोग-सुंदरी
बेपनाह कायों कोः
गोधूली की धूल को, मोटरों के धुँए को भी
पार्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक-खची तन्वि
रूप-रेखा को
और दूर कचरा जलाने वाली कल की उद्दण्ड चिमनियों को, जो
धुआँ यों उगलती हैं मानो उसी मात्र से अहेरी को हरा देगी !

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखेट हैः
एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़ कर क्या तू चला जाएगा ?
ले, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खँढर की शिरा-शिरा छेद के
आलोक की अनी से अपनी,
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर देः
विफल दिनों की तू कलौंस पर माँज जा
मेरी आँखे आँज जा
कि तुझे देखूँ
देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आये
पहनूँ सिरोपे-से ये कनक-तार तेरे –
बावरे अहेरी

उड़ चल, हारिल - सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

उड़ चल, हारिल, लिये हाथ में यही अकेला ओछा तिनका।
ऊषा जाग उठी प्राची में-कैसी बाट, भरोसा किन का!
शक्ति रहे तेरे हाथों में-छुट न जाय यह चाह सृजन की;
शक्ति रहे तेरे हाथों में-रुक न जाय यह गति जीवन की!

ऊपर-ऊपर-ऊपर-ऊपर-बढ़ा चीरता जल दिड्मंडल
अनथक पंखों की चोटों से नभ में एक मचा दे हलचल!
तिनका? तेरे हाथों में है अमर एक रचना का साधन-
तिनका? तेरे पंजे में है विधना के प्राणों का स्पन्दन!

काँप न, यद्यपि दसों दिशा में तुझे शून्य नभ घेर रहा है,
रुक न, यदपि उपहास जगत् का तुझ को पथ से हेर रहा है;
तू मिट्टी था, किन्तु आज मिट्टी को तूने बाँध लिया है,
तू था सृष्टि, किन्तु स्रष्टा का गुर तूने पहचान लिया है!

मिट्टी निश्चय है यथार्थ, पर क्या जीवन केवल मिट्टी है?
तू मिट्टी, पर मिट्टी से उठने की इच्छा किस ने दी है?
आज उसी ऊर्ध्वंग ज्वाल का तू है दुर्निवार हरकारा
दृढ़ ध्वज-दंड बना यह तिनका सूने पथ का एक सहारा।

मिट्टी से जो छीन लिया है वह तज देना धर्म नहीं है;
जीवन-साधन की अवहेला कर्मवीर का कर्म नहीं है!
तिनका पथ की धूल, स्वयं तू है अनन्त की पावन धूली-
किन्तु आज तू ने नभ-पथ में क्षण में बद्ध अमरता छू ली!

ऊषा जाग उठी प्राची में-आवाहन यह नूतन दिन का
उड़ चल हारिल, लिये हाथ में एक अकेला पावन तिनका!